पू. लालचंद भाई के प्रवचन
प्रश्नोत्तरी तथा तत्त्वचर्चा
दि.:- १७/०८/१९८७, प्रवचन नं. :- ४ b Version 2

मुमुक्षुः- ज्ञायक जाननहार ये दृष्टि का विषय है।

उत्तरः- सही है। अकर्ता कहो कि ज्ञायक कहो। एक ही बात है। ज्ञायक जो स्वभाव है वह क्रिया से रहित है। कोई भी प्रकार की क्रिया ज्ञायक तत्व में नहीं है। प्रमत्त-अप्रमत्त की दशाएँ उसमें नहीं हैं। ज्ञायक को जानने वाला जो ज्ञान, वह क्रिया, वह भी ज्ञायक में नहीं है। अर्थात् कि वास्तव में ज्ञान की पर्याय का भी आत्मा कर्ता नहीं है। ऐसा अकर्ता ज्ञायक है। वह दृष्टि का विषय है।

अब ऐसा अकर्ता और अकारक आत्मा ज्ञायक जो है वह ही दृष्टि का विषय है। पर जहाँ दृष्टि उस अकर्ता ऐसे ज्ञायक पर पड़ती है, दृष्टि और ज्ञान। श्रद्धा में ज्ञायक आता है अपरिणामी, निष्क्रिय, अकर्ता, तब ज्ञान भी उसे उसी प्रकार से जानता है और जाने हुए का श्रद्धान भी होता है कि मैं तो अकारक, अवेदक हूँ। किसी परिणाम का करने वाला नहीं और (किसी) परिणाम का भोगने वाला भी मैं नहीं। ऐसे अकर्ता, अभोक्ता वैसे आत्मा का जो त्रिकाली सामान्य एकरूप स्वभाव ऐसा ज्ञायक एकरूपभाव, टंकोत्कीर्ण एक जो ज्ञायकभाव, उसके ऊपर दृष्टि पड़ते ही आत्मा को आत्मा का अनुभव होता है। अनुभव में ऐसा आया कि मैं ज्ञायक हूँ। पहले अज्ञानदशा में ऐसा आता था कि मैं रागी हूँ। अब ऐसा आया कि अरे! मैं तो ज्ञायक हूँ। ऐसे दृष्टि और ज्ञान में आत्मा का अनुभव होता है तब वह ज्ञायक सामान्य अपेक्षा से अकर्ता होने पर भी विशेष अपेक्षा से कर्ता होता है। अर्थात् क्या?

सामान्य अपेक्षा से अकर्ता होने पर भी, ज्ञान की पर्याय का भी वह कर्ता नहीं है, ऐसा स्वरुप होने पर भी ज्ञान जब ज्ञायक को जानता है तब ज्ञायक को जाननेरूप ज्ञान परिणमता है कि मैं ज्ञायक हूँ । तब वह आत्मा स्वयं स्वयं को जानता है इसलिए स्वयं कर्ता हुआ। अकर्ता रहा और कर्ता हुआ। क्या कहा? अकर्ता तो तीनों काल रहा है। अकर्ता कर्ता बनता ही नहीं।

आत्मा एक है, उसके पहलू दो हैं। एक सामान्य और एक विशेष। ये बुनियादी बात जब तक जीव को ख्याल में नहीं आती, तब तक आत्मा को आत्मा का अनुभव होता नहीं। अब सामान्य पहलू से बात की कि आत्मा तीनों काल अकारक और अवेदक है। वह बंध-मोक्ष के परिणाम का कर्ता नहीं है। ऐसा जो भगवान ज्ञायक टंकोत्कीर्ण एक आत्मा है। वह जो ज्ञायक है, वह मैं हूँ। जहाँ ज्ञायक है वहाँ मैं हूँ। वहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररुप आत्मा परिणमता है। सर्वथा अपरिणामी और सर्वथा अकर्ता है- ऐसा नहीं है। अकर्ता होने पर भी अकर्ता को जानने वाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान में परिणाम होता है। तो वह परिणाम जब ज्ञायक को जानता है, तब सामान्य अपेक्षा से अकर्ता रहता हुआ, वह विशेष अपेक्षा से स्वयं अपने को जाननेरूप परिणमता है, इसलिए कर्ता भी बन जाता है।

कर्ता किसप्रकार बनता है? कि जो जाननेवाला वह मैं, इसलिये जाननेवाला वह कर्ता और जानने में आया भी आत्मा, इसलिए आत्मा कर्म हो गया। पर्याय से रहित आत्मा अकर्ता और पर्याय से

सहित आत्मा कर्ता। और कर्ता और अकर्ता- दोनों का विकल्प छूटता है, तब जैसा है वैसा आत्मा स्वयं अपने को जाननेरूप परिणमता है। तो स्वयं अपने को जाना, इसलिए स्वयं कर्ता, ज्ञायक को जाना और जानने में आया भी ज्ञायक इसलिए ज्ञायक स्वयं आत्मा का कर्म हुआ, जाननेरूप कार्य हुआ। जानने में आया कौन? कि ज्ञायक। आहाहा! ज्ञायक जब जानने में आया, जाननेरूप परिणमकर तो उसे कार्य कहने में (आता है)। कर्म अर्थात् कार्य हुआ। आहाहा! अकर्ता रहा और कर्ता हुआ। वह कर्ता हुआ अर्थात् स्वयं स्वयं को जानता है इसलिये कर्ता और स्वयं ही जानने में आया इसलिए स्वयं स्वयं का कार्य। यह कर्ता-कर्म का अनन्यपना हुआ। आहा! क्योंकि वह पर्याय सापेक्ष परिणामी द्रव्य का पहलू हुआ। अपरिणामी होने पर भी परिणामी होता है कथंचित्। कथंचित् अकर्ता और कथंचित् कर्ता- ऐसा स्याद्वाद आत्मा का स्वभाव है।

अब जब स्वयं स्वयं को जाननेरूप परिणमता है तब कर्ता हुआ और कर्ता-कर्म का अनन्यपना हुआ। तब उसका नाम बदल गया या वही का वही ज्ञायक रहा? वही का वही नाम रहा। नाम एक और अंदर भाव दो (हैं)। नाम तो ज्ञायक ही रहा। अपरिणामी का नाम भी ज्ञायक और ज्ञायक ज्ञायक को जाननेरूप परिणम जाए तो भी ज्ञायक ही है। दूसरा कोई नहीं। ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकपने ज्ञात हुआ वह स्वरुप प्रकाशन की अवस्था में भी ज्ञायक ही है। अन्य कोई नहीं। आहाहा!

संपूर्ण ४१५ गाथाओं का सार इस छठ्ठी गाथा में है। और छठ्ठी गाथा का सार एक ज्ञायकभाव में है। एक ज्ञायक को दो विवक्षा से जानने के बाद दो विवक्षा का, नयपक्ष का विकल्प छूटता है तब ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। आहाहा! ऐसा आत्मा को आत्मा का अनुभव होता है। मैं ज्ञायक हूँ- ऐसा जो श्रद्धा में आया वह ज्ञायक तो अपरिणामी है। और जो ज्ञान में आया शुद्धनय से, वह भी अपरिणामी है। किन्तु ज्ञान का एक दूसरा अंश प्रगट होता है, परिणामी को जानने वाला। तो वह ज्ञान जानता है कि परिणामी भी मैं और अपरिणामी भी मैं। कथंचित् अपरिणामी और कथंचित् परिणामी। परिणामी अर्थात् स्वयं स्वयं को जाननेरूप परिणमे, वह परिणामी। पर को जाननेरूप (परिणमन) की बात नहीं है। आहा!

देखो भाई! पहले जब पर को जानने का निषेध करेगा न, तब जाननहार जानने में आएगा। और जाननहार जानने में आएगा, फिर पर जानने में आएगा। क्या कहा? पहले अपनी आत्मा को जाने बिना पर को जाने, उसका नाम अज्ञान है और स्वयं अपने को जाननेरूप परिणमकर अपने को जाने और फिर पर को जाने तो व्यवहार है। पहले अपने स्वभाव को भूलकर और ज्ञेयों को जानने में रुका वह अज्ञान कहलाता है। किन्तु उस ज्ञेय से व्यावृत्त होकर, 'अरे! मुझे ज्ञेय जानने में नहीं आते। मुझे तो ज्ञान जानने में आता है अथवा ज्ञायक जानने में आता है!' इसप्रकार जहाँ ज्ञान अन्तर्मुख हुआ.. जो बहिर्मुख था उसमें इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता था। वह परज्ञेय की प्रसिद्धि करता था। वह ज्ञान वहाँ से व्यावृत्त हुआ। व्यावृत्त हुआ अर्थात् पीछे लौटा। व्यावृत्त हुआ अर्थात् पीछे लौटा और जहाँ उपयोग अंदर में आया (तो)... 'अरे! मैं तो जाननहार हूँ। जाननहार हूँ।' उस जाननहार में क्रिया नहीं है।

एक प्रश्न देवलाली में एक मुमुक्षु भाई ने किया था कि 'जाननहार जानने में आता है' अथवा 'मैं जाननहार हूँ' इसमें तो जैसे ज्ञान की क्रियावाला आत्मा हो ऐसा भासित होता है। तो वास्तव में क्या है?

कहा कि जानता है वह आत्मा नहीं है और जानने में आता है वह आत्मा है। वह जो जाननहार आत्मा है वह ज्ञायक है। और जो जानता है, वो उसकी पर्याय है। और पर्याय जब जाननहार को जानती है, तब जाननहार और जो जानने में आता है, वें भिन्न रहते नहीं हैं। वे अभेद हो जाते हैं। उसका नाम आत्मा का अनुभव है।

प्रकाश है सूर्य का प्रकाश। उसमें परपदार्थ प्रतिभासित होते हैं। इसप्रकार जबतक सूर्य के प्रकाश द्वारा पृथ्वी जानने में आती है, तबतक वह सूर्य और सूर्य के परिणाम को नहीं जानता। अचलजी! पर अरे! ये पृथ्वी? (ये) पृथ्वी जानने में नहीं आती। पृथ्वी जिसके द्वारा प्रसिद्ध होती है मुझे तो वह प्रकाश जानने में आता है। अरे! अब तो प्रकाश भी जानने में नहीं आता। मुझे तो सूर्य ही जानने में आता है। तब उसकी नज़र ठेठ सूर्य तक जाने पर उस वक़्त उसे पृथ्वी जानने में नहीं आती। फिर प्रकाश और प्रकाशक को अभेद करके जानने पर, निश्चय आ गया। फिर अब प्रकाश द्वारा पृथ्वी जानने में आती है, वह व्यवहार (है)। पहले सूर्य को जाने बिना पृथ्वी जानने में आती है तो अज्ञान (है) - सूर्य सम्बन्धी अज्ञान। फिर सूर्य को जानता है वो निश्चय और निश्चयपूर्वक पृथ्वी को प्रसिद्ध करता है, उसका नाम व्यवहार।

इसप्रकार पहले जानने का निषेध करके जाननहार को जाने, तो सम्यग्ज्ञान निश्चय और फिर पर को जाने तो उसको व्यवहार कहने में आता है। किन्तु पहले से मैं पर को जानता हूँ, वह तो उसका अज्ञान है, भाई! आहा! ये सेटिका में कहेंगे कि ज्ञायक तो ज्ञायक है। वह परिणामी हुआ। स्वयं अपने को जाना, वो पर्याय का निश्चय। नाम बदला नहीं। एक तत्व में ही स्याद्वाद है। एक आत्मा में स्याद्वाद है। कथंचित् अकर्ता और कथंचित् कर्ता, कथंचित् अभोक्ता और कथंचित् आनंद का भोक्ता भी आत्मा है।

वह आनंद को भोगता है। आनंद को भोगता है तो अभोक्तापना कायम रहा? तो कहते हैँ, हाँ...। अरे! आत्मा आनंद को भोगता है ऐसा कहते हो और आत्मा अभोक्तापने रहा है- ये क्या? वो जैन दर्शन की खूबी है। सामान्य पहलू अभोक्तापने रहते हुए विशेष पहलू में वह आनंद को भी भोगता है। भोगता है और नहीं भोगता- ये दोनों विकल्प छूटकर अनुभव होता है। तब जैसा है वैसा चित्स्वरूप जीव तो चित्स्वरूप है। कोई नयपक्ष ग्रहण नहीं करता। बात है झीनी (सूक्ष्म)। लोहा काटे छैनी। यह ऐसी बात है।

मुमुक्षु: .....

उत्तर: हाँ, बस! खत्म! फिर भोगता है या नहीं भोगता- इन दोनों नयपक्ष के विकल्प से आत्मा विराम पाता है। और जैसा है वैसा आत्मा परिणमता जाता है और ज्ञान उसे जानता है कि भोगता है या नहीं भोगता। बाद में सविकल्प दशा में आकर दूसरों को समझाता है तब नयपक्ष से समझाता है कि निश्चय से आनंद का अभोक्ता और व्यवहार से आनंद का भोक्ता भी है। आहाहा! वह सामान्य पहलू आनंद के अभोक्तापने और विशेष पहलू आनंद को भोगता है। इसप्रकार ज्ञान अभोक्ता और भोक्ता को, दोनों को विकल्प बिना अक्रम (ही) अतीन्द्रियज्ञान से जानता है।

मुमुक्षु: अतीन्द्रिय ज्ञान किस प्रकार प्रगट होता है?

उत्तर: वह इन्द्रिय ज्ञान का निषेध करे तब। और इन्द्रिय ज्ञान का निषेध कैसे हो? कि मैं पर को जानता नहीं तब।

मुमुक्षु: पर को जानना बंद करे तो क्या जानने में आता है?

उत्तर: पर को जानना बंद करे तब आत्मा जानने में आता है। क्योंकि जाने बिना तो आत्मा रहता ही नहीं। मैं पर को जानता नहीं तो ज्ञान का विषय तो कुछ न कुछ होगा। पर (विषय) होता था उसके बदले स्व (विषय) हो जायेगा। वह ज्ञायक जानने में आता है तो ज्ञायक जानने में आता है, तब क्या होता है? अतीन्द्रिय आनंद आता है। अपूर्व, नहीं आया (कभी) ऐसा। अतीन्द्रिय ज्ञान से आत्मा जानने में आता है अनुभव के काल में, तब उसे अतीन्द्रिय आनंद आता है, सुख का स्वाद। उसके द्वारा उसे पता चलता है कि सम्यग्दर्शन हो गया। क्योंकि आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, वह तो छद्मस्थ को दिखता नहीं। वह केवली का विषय है। उसके लिए मोक्षमार्गप्रकाशक कर्ता ने दृष्टांत दिया है। जैसे अँधा शक्कर खाये और देखने वाला शक्कर खाये। शक्कर तो दोनों खाते हैं और दोनों को मिठास का स्वाद आता है। देखनेवाले को मिठास का स्वाद आये और अँधा शक्कर खाये तो उसे कड़वाहट का अनुभव हो? वह तो देखता नहीं है। शक्कर की क्वालिटी एक ही है। शक्कर तो मिठास गुण से, मिठास गुण से भरा हुआ द्रव्य है। जो जीभ पर रखे तो उसको मिठास का स्वाद आये।

ऐसे ही केवली भगवान देखनेवाले हैं। वें आत्मा का अनुभव करते हैं तो उन्हें असंख्यात प्रदेश भी जानने में आते हैं। और छद्मस्थ अँधा है। केवलज्ञान नहीं है। किन्तु वह श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव करता है। भले प्रदेश न दिखें आत्मा के प्रत्यक्ष, किन्तु उसे आनंद का स्वाद आता है। मेंढक को, हिरन को, बोलो! मेंढक को और हिरन को सम्यग्दर्शन होता है। मेंढक को और हिरन को सम्यग्दर्शन होता है तो मनुष्य को होगा या नहीं होगा ? होता ही है। आहाहा ! अपने घर में जाए तब बेल (घंटी) बजाकर "मे आयी कम इन सर?"- ऐसे कोई पूछता है अपने घर में जाए तब? तो उसे पागल कहेंगे। तुम अपने घर में जाते हो और तुम पूछते हो कि मैं घर में आऊँ? किसी से पूछना नहीं होता। ऐसे ही, स्वयं अपने को जानने जाए अंदर में, तो किसी की मंजूरी लेने की ज़रूरत नहीं है। भगवान से नहीं पूछता कि मैं अब तुझे जानने आता हूँ।

भगवान, अब मुझे तुझे जानने का भाव जागा है। आज तक जागा नहीं। इसलिए मैं आपको जानूँ? ऐसा पूछने की जरूरत नहीं है। स्वयं भगवान है और भगवान को जानते ही भगवान हो जाता है। आहाहा! ये दो दोष हैं। एक पर को करूँ और एक पर को जानूँ (ये) महादोष हैं। एक राग को करूँ और राग को जानूँ, परिणाम को करूँ और परिणाम को जानूँ (महादोष है)। आहाहा! जाननहार है उसमें करना नहीं है भाई! आत्मा ज्ञान को करता है, वह भी उपचार है। आत्मा राग को करता है, वह तो अज्ञान है।

आत्मा का अनुभव कैसे हो?- यही प्रश्न अनादिकाल से पूछने में आया है और श्रीगुरु उसका उत्तर देते आये हैं। और उत्तर से समाधान होने पर दूसरे जीवों को अनुभव भी होता है। ऐसी परंपरा भारत में है। प्रश्न है कि पर्याय में राग-द्वेष होता है उस समय, राग द्वेष से भिन्न अपनी शुद्धात्मा का अनुभव कैसे होता है? ऐसा एक प्रश्न है। तो उसका उत्तर ऐसा है कि, राग-द्वेष के परिणाम हैं, वें

आस्त्रव तत्व हैं। ज्ञायक जीव तत्व के स्वभाव में उनका अभाव है। अर्थात् जीव के सन्मुख जहाँ जीव होता है , वहाँ अकेला ज्ञायक हूँ ऐसा अनुभव होता है। पर 'मैं रागी हूँ'- वैसा अनुभव नहीं होता। क्योंकि राग के परिणाम पर्याय में रह जाते हैं, द्रव्य तक नहीं आते। वह ज्ञान अंतरसन्मुख होते ही उस राग से भिन्न आत्मा की अनुभूति होती है। वहाँ आचार्य भगवान ने ऐसा उत्तर दिया, शिष्य ने कहा कि वर्तमान में मोह, राग, द्वेष के परिणाम तो हैं। तो ऐसे काल में आत्मा का अनुभव कैसे हो?

तब उसका एक संक्षिप्त उत्तर इसप्रकार देते हैं कि वें अभूतार्थ होने से आत्मा का अनुभव हो सकता है। राग-द्वेष के परिणाम अभूतार्थ होने से, हो जाने से नहीं, होने से। उसका अर्थ अभी करेंगे। अभूतार्थ होने से अर्थात् आत्मा के स्वभाव में उसका होनापना नहीं है। अ, भूत और अर्थ, अभूतार्थ अर्थात् अ, भूत और अर्थ। अ अर्थात् नहीं, भूत अर्थात् होनापना, अर्थ अर्थात् भाव। वह जो राग का भाग है वह आत्मा के स्वभाव में प्रवेश नहीं करता, वो तो ऊपर ऊपर बाहर रह जाता है। अंतरमग्न वह उपयोग जब ज्ञायक के सन्मुख होता है, तब ज्ञान और आनंद का अनुभव आता है। राग और राग की आकुलता का वेदन उस वक़्त नहीं आता क्योंकि आत्मा आस्त्रव से भिन्न है। एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है।

अभी मोटर में आते हुए मैंने बहन की आवाज सुनी कि एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। उपयोग में क्रोधादि नहीं, उपयोग में उपयोग है। इसलिए अकेले उपयोग का स्वाद आता है किन्तु क्रोध का स्वाद नहीं आता। मुद्दे का प्रश्न है यह कि संसारी जीव को वर्तमान में राग-द्वेष तो होता है। उस समय राग-द्वेष से रहित आत्मा का अनुभव कैसे हो? आत्मा में राग नहीं है इसलिए आत्मा का अनुभव होता है। तो जो उसमें है उसका अनुभव होता है। है क्या आत्मा में? ज्ञान और आनंद। इसलिए ज्ञान और आनंद का अनुभव आता है और राग का अनुभव नहीं होता। अन्तर्मुख होना चाहिये उसको ।

मुमुक्षु: राग-द्वेष के परिणाम तो चारित्र गुण की विकारी पर्याय है और ज्ञान गुण का परिणमन तो स्वतंत्र है।

उत्तर: ये ज्ञान है न, वो राग से भिन्न करके आत्मा को पकड़ लेता है। ऐसी ज्ञान की ताकत है। वह जो ज्ञान इन्द्रियज्ञान था न, और उसकी चारित्र की पर्याय को जानता था, उस इन्द्रियज्ञान का व्यापार बंद होकर नया अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है। उस अतीन्द्रियज्ञान में अतीन्द्रियज्ञानमय भगवान आत्मा जानने में आता है। 'ये इन्द्रियवाला मैं हूँ'- ऐसा जानने में नहीं आता। मैं रागी हूँ- ऐसा जानने में नहीं आता। राग से भिन्न आत्मा का अनुभव हो सकता है। ऐसा समयसार की १४वी गाथा में कहा है पांच बोल से कि पांचो भाव का आत्मा में अभाव है। १. कर्म के बंध का अभाव है। २. गुणभेद का अभाव है। ३. संयोगी राग का भी अभाव है। ४. अगुरुलघु गुण की पर्याय प्रगट होती है, उसका भी आत्मा में अभाव है। ५. नर-नारक आदि पर्याय की गति का भी आत्मा में अभाव है। पांच भावों का अभाव होने से पंचम पारिणामिकभाव वाला भगवान आत्मा वह दृष्टि में और अनुभव में आता है। उसका नाम धर्म की शुरुआत है।

पाप से तो धर्म नहीं होता पर पुण्य के परिणाम से भी धर्म नहीं होता। और शास्त्र ज्ञान से

आत्मा जानने में नहीं आता। क्या कहा? पुण्य से तो धर्म नहीं होता और शास्त्र ज्ञान से आत्मा जानने में नहीं आता। आहाहा! पुण्य से धर्म नहीं होता। क्यों? क्योंकि पुण्य के परिणाम वे आस्त्रव तत्व- मलिनभाव हैं, राग है। जिससे बंध होता है उससे मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिए पुण्य से धर्म नहीं होता।

फिर शास्त्र ज्ञान से आत्मज्ञान होता नहीं। क्योंकि शास्त्र सन्मुख का ज्ञान वह तो इन्द्रियज्ञान है। उस इन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा जानने में नहीं आता। जो ज्ञान शास्त्र को प्रसिद्ध करता है वो ज्ञान आत्मा को तिरोभूत करता है। ये पंडितों की भूल। पुण्य से धर्म होता है, वो समाज की भूल और शास्त्र से ज्ञान होता है, वो विद्वान की भूल। शास्त्र से आत्मज्ञान नहीं होता। भले आत्मा के अनुभव के पहले शास्त्र निमित्तरूप होता है किन्तु निमित्त के लक्ष्यवाला ज्ञान आत्मा को प्रसिद्ध करता नहीं है। आत्मा को तिरोभूत करता है। ये पन्द्रहवीं गाथा (समयसार) में है। ज्ञेयाकार ज्ञान का आविर्भाव- सामान्यज्ञान का तिरोभाव। ज्ञेय के सम्बन्ध वाला जो ज्ञान प्रगट होता है, शास्त्र के लक्ष्य वाला ज्ञान प्रगट होता है, वो ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। उससे भिन्न ज्ञान है। उससे भिन्न एक नया ज्ञान प्रगट होता है। जो अनंतकाल से नहीं प्रगटा हुआ... नया (प्रगट होता है)।

उपयोग में उपयोग है ऐसा अविपरीत ज्ञान प्रगट होता है, तब शुद्धोपयोग प्रगट होता है। शुद्धोपयोग में आत्मा का दर्शन होता है उसे संवर कहने में आता है। ये बात तो रोज चलती है।

मुमुक्षु: देशनालब्धि से आत्मा का ज्ञान होता है?

उत्तर: देशनालब्धि से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा का ज्ञान देशनालब्धि का लक्ष्य छोड़कर वह ज्ञान अन्तरसन्मुख हो और आत्मा का अनुभव करे तब उसे देशनालब्धि से आत्मा का ज्ञान हुआ ऐसा उपचार से, व्यवहार से कहने में आता है। जब तक देशनालब्धि के ऊपर लक्ष्य है तब तक आत्मा का अनुभव नहीं आता। उसका लक्ष्य छोड़े, साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि सुनता है कि तुम शुद्धात्मा हो। ऐसा वाणी में आया। वाणी की सन्मुखता वाला जो ज्ञान है वह इन्द्रियज्ञान है। वहाँ से वह ज्ञान छूटता है और वह ज्ञान (जब) अंतर में आये, तब अनुभव होता है। तब देशनालब्धि से सम्यग्दर्शन हुआ- ऐसा उपचार से, व्यवहार से कहने में आता है। ऐसा व्यवहार है सही। पर व्यवहार कब कहलाता है? कि आत्मा का अनुभव करने के बाद उसे व्यवहार कहा जाता है। आत्मा का अनुभव न करता हो तो देशनालब्धि में रुक गया। उसे देशनालब्धि से सम्यग्दर्शन हुआ- ऐसा कहने में नहीं आता। सम्यग्दर्शन होता है तब वाणी से, जिनवाणी से आत्मज्ञान हुआ, ऐसा व्यवहार करने में आता है। आहाहा! ऐसा पूर्वभूमिका में व्यवहार होता भी है। शास्त्र सन्मुख होकर जानता है कि शास्त्रज्ञान वो ज्ञान नहीं है। ऐसे जहाँ वाणी सुनता है कि शास्त्रज्ञान वह ज्ञान नहीं है, आत्मज्ञान वह ज्ञान है, इतने में तो उपयोग अंदर में आ जाता है। तब शास्त्र से ज्ञान हुआ- ऐसा उपचार से कहने में आता है।

मुमुक्षु: ज्ञान के प्रदेश और राग के प्रदेश सर्वथा भिन्न हैं?

उत्तर: हाँ। सर्वथा भिन्न हैं। वस्तु भिन्न है। व्यवहारनय से देखने में आये तो राग जीव के प्रदेश में होता है। परन्तु निश्चयनय से देखने में आये तो इस जीव के क्षेत्र में राग नहीं होता। जीव के क्षेत्र में

चेतना होने से ज्ञान ही होता है और राग नहीं होता। प्रदेश भिन्न है, क्षेत्र भिन्न है। दूसरी जगह होता है, मेरे में नहीं। वह दूसरे के क्षेत्र में है। आहाहा! वह जिसमें बबूल के काँटे उगें, वह खेत मेरा नहीं है। चन्दन के वृक्ष जिसमें उगें वह खेत मेरा है। आहाहा! वह शीतलता का खेत मेरा है। वह जिसमें आकुलता उत्पन्न हो वो मेरा खेत नहीं है। ऐसा खेत जोतने जैसा नहीं है। आहाहा! स्याद्वाद से जैसा है वैसा समझना चाहिए।

राग व्यवहारनय से जीव का परिणाम और निश्चयनय से वो पुद्गल का परिणाम। और यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखने में आये तो राग न तो जीव का परिणाम है और न पुद्गल का परिणाम है। अवस्तु हो गयी। मिथ्यात्व गया। मिथ्यात्व के परिणाम जाने के बाद मिथ्यात्व के परिणाम कथंचित् जीव के या कथंचित् पुद्गल के? किसके कहोगे? हैं ही नहीं तो किसके कहने? हों तब तक कथंचित्।

ये तो दृष्टांत है। किसी को घबराने जैसा नहीं है। एक बाहर गाँव की बात कहता हूँ। ये अपने अभी हिम्मतनगर की बात नहीं है। हिम्मतनगर की घटना नहीं है। बाहर गाँव की बात कर रहा हूँ। माता पिता के एक ही पुत्र था। वह गुजर गया। था तब तक तो कहलाता है कि कथंचित् देवदत्त का पुत्र और कथंचित् देवदत्ता का पुत्र। हो तब तक। गुजर जाने के बाद? है ही नहीं। (तो) किसका बेटा? ऐसे पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हो गयी। राग है ही नहीं फिर कथंचित् कहाँ रहा? आहाहा!

मुमुक्षु: व्यवहारनय से आत्मा अनंत गुणों से सहित है। फिर भी परिणाम से सहित मानना, वह मिथ्यात्व है।

उत्तर: आत्मा अनंत गुणों से सहित है। फिर भी उसे पर्याय से सहित मानना, वह मिथ्यात्व है। अनंत गुणो से सहित है ये तो वास्तविक है। गुणी है आत्मा। किन्तु... ये तो नित्य है, ध्रुव है। किन्तु इसका जो परिणाम होता है, उस परिणाम से मैं सहित हूँ- ऐसा माने तो उसे दृष्टि का विषय हाथ में नहीं आया। उसको श्रद्धा का विषय बनाया इसलिए मिथ्यात्व है। क्योंकि परिणाम से सहित मानने पर, परिणाम का तो अभाव हो जाता है। तो वें परिणाम मेरे हैं और वें परिणाम (चले) गये, तो आकुलता होगी।

परिणाम आओ या परिणाम जाओ, मैं तो अनन्तगुणात्मक टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। आहाहा! परिणाम आओ या परिणाम जाओ। परिणाम उपजे या परिणाम विनष्ट हो, वह मेरी चीज़ नहीं है। मैं तो एक अविनाशी तत्व हूँ। इसप्रकार द्रव्य के ऊपर दृष्टि पड़ने पर परिणाम प्रगट होता है। और नाशवान परिणाम को ज्ञान जानता है। अविनाशी को जानते जानते नाशवान परिणाम को जानता है, तो उसे आकुलता होती नहीं। द्रव्य के ऊपर दृष्टि पड़ने पर परिणाम तो होता है। और परिणाम को ज्ञान जानता है कि यह आता और जाता है। उत्पाद और व्यय होता है, उसे मात्र ज्ञान जानता है। किन्तु उसमें उसकी आत्मबुद्धि होती नहीं है। आत्मबुद्धि एक में है, ज्ञान दो का है। आश्रय एक का और ज्ञान दो का। आश्रय एक का और ज्ञान अनंत का।

आश्रय एक का और ज्ञान अनन्तगुण की अनंत पर्याय होती हैं, उनको ज्ञान जानता है। एक का आश्रय होने से वह अनंत पर्यायों को जानता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। एक को ज्ञान जानता है ऐसा कहना वह निश्चय है। एक को जानने पर अनंत जानने में आ जाता है। और एक को जाने बिना

एक भी जानने में नहीं आता। एक को जाने बिना एक भी जानने में नहीं आता, दो भी जानने में नहीं आते और अनंत भी कुछ जानने में नहीं आते। वह तो अज्ञान होता है।

मुमुक्षु: साहेब! शास्त्र में 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तंसत्' को द्रव्य का लक्षण कहा है।

उत्तर: हाँ। वह द्रव्य का लक्षण है। पदार्थ का ऐसा स्वरुप है। उप्ताद, व्यय और ध्रुवयुक्तं सत्, उसमें पदार्थ की सिद्धि होती है किन्तु उसमें प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। प्रयोजन की सिद्धि तो- इस प्रमाणज्ञान में से फिर शुद्धनय का विषय निकाले कि उत्पाद-व्यय से रहित ऐसा ध्रुव परमात्मा मैं हूँ! इसप्रकार ध्रुव के ऊपर दृष्टि लगाने पर उसको आत्मा का अनुभव होता है। और अनुभव के काल में 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तंसत्' का ज्ञान होता है। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तंसत् का ज्ञान होने पर भी अज्ञान नहीं है। और ध्रुव को जाने बिना उत्पादव्ययध्रुव को जाने और श्रद्धा का विषय बनाये, तो वह मिथ्यादर्शन है। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तंसत् (ऐसे) पदार्थ के ज्ञान तक (जीव) अनंतबार आया, पर उसमें प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई। (वह) प्रमाण का विषय है। प्रमाण का विषय पूज्य नहीं है। क्योंकि उसमें निश्चयनय का विषय ध्रुव भी आता है और व्यवहारनय का विषय भी उसमें आ जाता है। अर्थात् उसमें निश्चयनय द्वारा व्यवहार का निषेध नहीं आया, इसलिए प्रमाण पूज्य नहीं है। नय की अपेक्षा प्रमाण का विषय अधिक होने पर भी (प्रमाण) पूज्य नहीं है। और निश्चयनय का विषय एक होने से पूज्य है।

मुमुक्षु: ध्रुवपर्याय और प्रत्यभिज्ञान- उसका स्पष्टीकरण करने की विनती है।

उत्तर:- ध्रुवपर्याय और प्रत्यभिज्ञान। ध्रुवपर्याय। एक तो जो सिद्धपर्याय है न, उसे भी ध्रुव और अचल कहा है। पर्याय को ध्रुव क्यों कहा? क्योंकि फिर से सिद्ध भगवान संसार में नहीं आते। इसलिए उस सिद्धपर्याय को भी ध्रुवपर्याय कहने में आता है। दूसरी एक कारणशुद्धपर्याय है, वह ध्रुव है। कारणशुद्धपर्याय (है) वह भी ध्रुव है। वह कारणशुद्धपर्याय भी अविनाशी है। एक बात। और दूसरा, प्रत्यभिज्ञान अर्थात् क्या? कि एक बार जाने हुए का पुनः पुनः ज्ञान होता है, उसको प्रत्यभिज्ञान कहने में आता है।

जैसे कि एक बार हिम्मतनगर का ज्ञान हुआ कि ये हिम्मतनगर है और तुम मुंबई गये तो भी हिम्मतनगर का ज्ञान पुनः पुनः होता है। उसको प्रत्यभिज्ञान कहने में आता है। जाने हुए पदार्थ को पुनः पुनः जानना उसको प्रत्यभिज्ञान कहने में आता है। इसप्रकार साधक को एक बार शुद्धात्मा जानने में आया, उस ही आत्मा को, ऐसे ही आत्मा को वह साधक पुनः पुनः जानता है, तो उसे प्रत्यभिज्ञान कहने में आता है। जाने हुए पदार्थ को पुनः पुनः बारम्बार उस ही पदार्थ को जानना। जैसे कि जो जानने में आये (थे), वे ही ये भाई हैं। कल जिनको जाना था वें ही ये भाई हैं। इसप्रकार जो कल जाना था और आज जाना उसको जोड़ने वाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहने में आता है।

मुमुक्षु: उसको ध्रुवपर्याय कहते हैं?

उत्तर: नहीं, ध्रुवपर्याय नहीं। जाने हुए द्रव्य को जाना और जाने हुऐ का ज्ञान हुआ, उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। आहाहा! एक मनुष्य पर्याय है, एक जीव की मनुष्यपर्याय है, उस पर्याय का ज्ञान हुआ तुम्हें, तुमने कहा कि इस भाई का नाम क्या है? झवेरचंदभाई! झवेरचंदभाई मुझे कल मिले थे। तो आज झवेरचंदभाई फिर से मिलें न, तो वह तो पर्याय है । तो पर्याय का ज्ञान पुनः पुनः होता है

उसको भी प्रत्यभिज्ञान कहने में आता है। ये कौन हैं भाई ? कि कल निकले थे वही के वही हैं। उसमें कोई बदलाव नहीं है। टोपी बदल गई हो पर भाई तो वही के वही हैं। कल जिन्हें देखा था, वें वही के वही हैं। आहाहा!

मुमुक्षु: उपयोग में उपयोग है, तो इस उपयोग में और दूसरे उपयोग में क्या अंतर है?

उत्तर: उपयोग में उपयोग है। उसमें बहुत अंतर है। जो पहला उपयोग शब्द है वह सामान्य उपयोग है। उसमें अशुद्ध उपयोग भी नहीं लेना और शुद्ध उपयोग भी नहीं लेना। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में उपयोगलक्षण कहा है न तो वो उपयोगलक्षण है। उस उपयोग में आबाल-गोपाल सभी को भगवानआत्मा अनुभव में आ रहा है, उसको उपयोग कहते हैं। सभी अज्ञानी प्राणियों को भी उपयोगलक्षण में उपयोगवान ज्ञायक आत्मा जानने में आ रहा है। उस उपयोग में उपयोग है, वो सामान्य है। पर उस उपयोग में क्रोधादि नहीं है। ऐसा जिसे भेदज्ञान होता है कि उपयोग में तो आत्मा ही है, इसलिए मुझे आत्मा जानने में आता है और क्रोधादि जानने में नहीं आते। इसप्रकार उपयोग अन्तरसन्मुख हुआ, वहाँ उस उपयोग का नाम शुद्ध उपयोग हुआ। उस शुद्ध उपयोग का नाम संवर है। और उपयोग का नाम आस्त्रव भी नहीं है और संवर भी नहीं है। सामान्य उपयोग।

मुमुक्षु: शुद्ध उपयोग वह चारित्र गुण की पर्याय है या ज्ञानगुण की?

उत्तर: शुद्ध उपयोग है वह ज्ञान गुण की पर्याय है। पर साथ में शुद्धता का उपचार आया इसलिए वह चारित्र गुण की पर्याय हुई। शुद्धता और अशुद्धता, वह भी श्रद्धागुण की और चारित्रगुण की पर्याय की अपेक्षा से है। उपयोग तो उपयोग ही है। उपयोग तो शुद्ध भी नहीं है और अशुद्ध भी नहीं है। वह तो जानना जानना जानना होता है। पर जब अंतरसन्मुख हो और मिथ्यात्व जाये और चारित्र में अनंतानुबंधी कषाय की चौकड़ी भी जाये, तब उस उपयोग को शुद्धउपयोग कहने में आता है। उस उपयोग में मिथ्यात्व का स्वाद नहीं आता। और अनंतानुबंधी चारित्र के दोष का भी स्वाद नहीं आता। एकमात्र वीतराग भाव का स्वाद आता है। तो उसे शुद्धउपयोग कहने में आता है।

मुमुक्षु: उसे तो अनुभूति कहा है।

उत्तर: अनुभूति कहा जाता है। अनुभूति कहा जाता है और उसे आत्मा भी कहा जाता है। अनुभूति वह ज्ञान की ही अवस्था है। एक अपेक्षा से अनुभूति को.., चारित्र की अपेक्षा से उसको चारित्र की पर्याय कहा है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने तीन शब्द प्रयोग किये हैं। लक्ष्य, प्रतीति और अनुभव। लक्ष्य वह ज्ञान की पर्याय, प्रतीति वह श्रद्धा की पर्याय और अनुभूति वह चारित्र की पर्याय। ऐसे जहाँ जहाँ जो जो योग्य है वहां वैसा समझना (चाहिए)। उस प्रकरण के अनुसार अर्थ समझ लेना चाहिए। अनुभव, लक्ष्य, प्रतीति। ऐसे तीन शब्द प्रयोग किये हैं। अनुभव अर्थात् चारित्र की अपेक्षा से कहा। अनुभव के बाद लक्ष्य ज्ञान की पर्याय है और प्रतीति वह श्रद्धा की पर्याय है। हो गया समय।

बोलो परम उपकारी पूज्य सद्गुरुदेव की जय हो!